International Journal of Academic Research and Development
ISSN: 2455-4197, Impact Factor: RJIF 5.22
www.academicsjournal.com
Volume 2; Issue 4; July 2017; Page No. 808-810

भारतीय परिप्रेक्ष्य में सामन्तवाद के की प्रमुख अभिलक्षण

डॉ0 कन्हैया लाल यादव
पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

सामन्तवाद भूमि आधारित एक सामाजार्थिक व्यवस्था हैं। सामन्त कृषक व शासक के मध्यस्थ स्वामित्व प्रधान वर्ग था। यह शासक द्वारा प्रदत्त भूमि का राजनीतिक, आर्थिक प्रशासनिक व भूस्वामित्व का अधिकार रखता हैं, बदले में शासक को निश्चित कर, सैन्य सहयोग एवं स्वामीभक्ति प्रदान करता था। समाज की इस व्यवस्था को सामन्तवाद व्यवस्था कहते हैं। भारत में सामन्तवाद का प्रारम्भ प्रथम शताब्दी सामान्य युग से दिखलाई पड़ने लगता है किन्तु विकसित स्वरूप पूर्व मध्यकाल में ही हुआ। सामन्तवादी प्रवृतियों के विकास के साथ–साथ भूसम्पत्ति, सामरिक गुण, राजाधिकार आदि सामाजिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा के प्रमुख आधार बन गये। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से भारतीय परिपेक्ष्य में सामन्तवादी प्रवृतियों को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

भुमिदान और भूमि के हस्तांतरण

भू–दान पत्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि सामान्य युग की प्रारम्भिक शताब्दियों से शासक व उनके राजपरिवार के सदस्यों द्वारा धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित व प्रभावित होकर ब्राह्मणों, पुरोहितो एवं बौद्ध मठों, बिहारों को भूमि एवं ग्रामदान के रूप में दिये जाते थे। गुप्तकाल में एवं पूर्व मध्यकाल में नए क्षेत्रों में बस्तियां बसाने में भूमिदान का बहुत योगदान रहा। बंगाल में समाचार देव का एक अभिलेख जो छठी शदी ई0 के उत्तरार्द्ध में जारी किया गया था इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। भूमि एवं ग्राम दान की प्रथा के फलस्वरूप ये बिहार एवं मन्दिर अनेक रियासतों का उपभोग करने वाली अर्द्धस्वतंत्र इकाईयाँ बन गई। मन्दिरों मठो, ब्राह्मणों, पुरोहितों, सैनिकों एवं अधिकारियों की भूमि एवं ग्रामदान के साथ कृषको एवं शिल्पियों को भी हस्तांतररित कर दिया जाता था। पूर्वी बंगाल के अशरफपुर अभिलेख में प्रदत्त भूमिखण्ड भोक्ताओं के नाम के साथ उसे जोतने वाले कृषकों के नाम भी दिये गए हैं। भूमिदान पत्रों में भूमि के साथ ग्रहीता को यह अधिकार दिया जाता था कि प्रदत्त भूमि का स्वयं उपभोग करे या तदर्थ को दे, यही से उपसामन्तीकरण की प्रवृति को बढ़ावा मिला अब कृषकों, मजदूरों स्वयं शिल्पियों की गतिशीलता समाप्त हो गई।

सामाजिक वर्गस्व की आकांक्षा

सामन्तगण सामाजिक श्रेष्ठता व प्रतिष्ठा के लिए अपने पूर्वजो को देवाताओं, ऋषिओं एवं पुरोहितों के गोत्रों से जोड़ने लगें। अपने को सूर्यवंशीय व चन्द्रवंशीय बताने वाले सामन्त घरानों के मूल मिश्रित मालूम होते हैं। भू–दान पत्रों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता हैं कि ग्रहीता के दायित्व दाता के दायित्व से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे एक प्रकार से उसमें एक पक्षीय कृतज्ञता अपेक्षित है। अनुबन्ध का भाव समान स्तर को भोक्ता, दाता, सामन्त या स्वामी के बीच होता था। किन्तु भू–स्वामी और कृषकों के सम्बन्ध का नियमन कृतज्ञता के भाव से होता था।

परस्पर आर्थिक निर्भरता का सम्बन्ध

सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत कृषकों की स्थिति खेतिहर मजदूरो के समान थी। फाह्यिान एवं इत्सिंग के विवरणों से स्पष्ट होता हैं कि बिहार की जमीन अस्थायी पट्टेदार लोग जोतते थे। कृषकों को जिन शर्तो पर जमीन दी जाती थी उसकी कुछ जानकारी इत्सिंग के विवरण से प्राप्त होती है कि बिहार किसानों को जमीन और बैल देता था और आमतौर पर उपज का छठा हिस्सा उनसे लेता था। इस विवरण से स्पष्ट होता हैं कि कृषक वर्ग अब अस्थायी पट्टेदार थे, जो भू–स्वामी को राजस्व अदा किया करते थे। जहाँ एक ओर कृषकों की स्थिति दासवत हो गई, वही दूसरी ओर उन पर तरह–तरह के नवीन कर लगा दिए जाते थे। करों के बोझ से दबे कृषकों की स्थिति दिन पर दिन बदतर होती जा रही थी। भूमि के साथ सामंतो को भोगाधिकार एवं स्वामित्वाधिकार दिए जाने से ग्रामवासियों, कृषकों एवं शिल्पियों के भूमि विषयक अधिकार तो छिन ही गए साथ ही उन्हें उपसामन्तीकरण और दरपट्टे के चलन का भी शिकार बनना पड़ा। उपसामन्तीकरण की प्रथा के अन्तर्गत् भूमि का स्वामी अपनी इच्छा से किसी अन्य को भूमि दे सकता था तथा साथ में उन काम करने वाले कृषकों को भी हस्तांरित कर देता था। इस तरह नए–नए स्वामियों की अधीनता कृषकों के लिए पराधीनता के नए क्षेत्र प्रस्तुत करती थी। ग्रहीता कृषकों पर अपना पूरा अधिकार समझता था एवं इच्छानुसार उन्हें रख या सेवा मुक्त कर सकता था। सामन्ती व्यवस्था में जन पराधीनता के अनेक रूप थे। जब भी कोई अधिकारी अपने अधीनस्थ क्षेत्र में जाता था अथवा वहाँ से गुजरता था तब ग्रामवासियों को उनकी आवभगत करनी पड़ती थी। वे स्वयं भी अपने खर्चे के लिए उस गाँव से जबरदस्ती पैसा या रसद वसूल किया करते थे। इसके अतिरिक्त परिवहन के लिए पशुओं की व्यवस्था भी करनी पड़ती थी। भूमि एवं ग्रामदान से ग्रहीता को न्याय एवं प्रशासन सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त होते थे। उनके द्वारा वे अधीनस्थ ग्रामवासियों पर अपना आर्थिक आधिपत्य सुगमता से बढ़ा सकते थे, वे हर तरह से कृषकों के भाग्य विधाता थे। शासनकर्त्ता भी वे ही थे। अतः कृषको के ऊपर उनकी अधिकारिता थी, वे अपनी अधिकारिता का दुरूपयोग करते थे। बेगार प्रथा भी जन पराधीनता का एक रूप थी जिसके अन्तर्गत् ग्रहीता को कृषकों श्रमिकों व ग्रामवासियों से विष्टि लेने का अधिकार प्राप्त होता था। भूमि एवं ग्राम से सम्बन्धित अधिकारों को प्राप्त करने के फलस्वरूप ग्रहीता भू–प्रभुत्वासम्पन्न हो जाता है तथा अपने अधीनस्थ जन से तरह–तरह कार्य एवं राजस्व लेता था। कभी–कभी अतिशय कर के बोझ से कृषक एवं ग्रामवासी ग्राम छोड़कर अन्यत्र चले जाते थे या सामन्तों के प्रति विद्रोह कर देते थे।

कृषकों, शिल्पियों एवं व्यवसायियों की प्रतिबन्धित गतिशीलता

भू–दानपत्रों से यह ज्ञात होता है कि जब कोई भूमि एवं ग्राम दान मे दी जाती थी तो उस पर काम करने वाले कृषकों, शिल्पियों, व्यवसायियों अर्थात् समस्त ग्रामवासियों को भी ग्रहीता को सौप दिया जाता था। भूमि एवं ग्रामदान की यह प्रथा परम्परा बन गई,

ग्यारहवी सदी ईस्वी तक यह समाज में प्रतिष्ठत हो गई। नौवीं सदी ईसवीं के बुन्देलखण्ड से प्राप्त भू–दानपत्रों में गाँव के साथ कृषकों, शिल्पियों एवं व्यापारियों के हस्तांतरण के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। ग्यारहवी सदी ईस्वीं के मध्य का एक भू–दानपत्र उपलब्ध हैं जिसके अनुसार भगवान शिव के मन्दिर का राजा गोविन्द केशवदेव से 365 धर प्राप्त हुए। इन गृहस्थों में केवल कृषक ही नहीं, बल्कि चरवाहें और शिल्पी लोग भी सम्मिलित थे को बेदखल कर सकता था, दूसरी ओर वे स्वेच्छा आवास तथा व्यापार के लिये स्वतंत्र नहीं थे और जिसका नियन्ता उनका स्वामी था, जब उसकी इच्छा हुई एक ही झटके से उनके भाग्य की ढोर को चटकाकर उन्हें निरालम्ब और निराश्रय कर सकता था। यह दुहरी व्यवस्था अन्योन्याश्रित थी जिसका प्रभाव अर्थव्यवस्था पर स्पष्ट नजर आता है।

व्यापारिक अवनति और अत्यधिक उत्कृष्ट कोटि की मुद्रा का अभाव

सामन्ती अर्थव्यवस्था में अधिकाशतः स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय स्तर पर तैयार की गई वस्तु विनिमय प्रणाली के माध्यम से किया जाने लगा। गुप्त काल के उत्तरार्ध में व्यापार एवं उद्योग केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त होकर स्थानीय आर्थिक इकाईयों के प्रधान के अधीन हो गया, जिससे बाह्य व्यापार मे शिथिलता नजर आने लगी एवं आन्तरिक व्यापार–वाणिज्य के नाम पर जो कुछ रह गया वह भी सामंतवादी ढाँचे में ढल गया था। जो भी सिक्कें प्राप्त हुए हैं वे अधिकाशतः निम्न मूल्य की धातुओं के बने हुए है, इसमें सन्देह नहीं कि स्थानीय संस्थाओं नगरों या व्यापारियों द्वारा जारी किए गए सिक्के केन्द्रीय सत्ता की शक्ति के निश्प्रभावी होने और क्षेत्रीय आर्थिक एकांशो की अस्तिव की साक्षी है। अतः व्यापक स्तर पर उत्कृष्ट कोटि की (स्वर्ण एवं रजत धातु) मुद्रा का अभाव सामन्तयुग में नजर आता है।

प्रशासकीय शिथिलता एवं कुरीतियाँ

सामन्तवादी व्यवस्था के अन्तर्गत् राजस्व का अधिकार भी भूमि ग्रहीता की प्रदान कर दिया गया। प्रारम्भिक दानपत्रों से ज्ञात होता है कि भूमि से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण साधन यथा, भू–गर्भ सम्पदा सिंचाई इत्यादि राजा के अधिकार में थे, किन्तु कालान्तर में भू–सम्बंधी समस्त राजस्व के साधन ग्रहीता को दिऐ जाने लगे। पाल एवं प्रतिहार के भू–दानपत्रों से यह स्पष्ट ज्ञात होता हैं कि भूमि से सम्बन्धित समस्त अधिकार ग्रहीता के हाथ चले जाने से कृषक वर्ग पूर्णतः ग्रहीता के आश्रित या पराधीन हो गए। परवर्ती काल (1080 ईस्वी) के दानपत्रों में पेशे के अनुसार व्यापारियों पर लगाए गए करों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त जिन्सों में भी महसूल लगाने का उल्लेख प्राप्त होता है, एक भरक नारियल पर एक नारियल, एक हजार सुपारी पर एक सुपारी, एक घड़ा तिल के तेल या मक्खन पर एक पलिका तिल का तेल या मक्खन तथा फूलों के गट्ठर पर फूलों का एक गुच्छा शुल्क के रूप में देने को कहा गया है तरह–तरह के शुल्क जो लिए जाते थे वे धार्मिक क्रिया–कलापो के अंग थे। दण्ड जो राज्यसत्ता का मुख्य आधार स्तम्भ था। पाँचवी सदी ईस्वी के बाद यह अधिकार राजा द्वारा भूमिदान ग्रहीता को हस्तांतरित किया जाने लगा । अतः राजस्व के साथ प्रशासन एवं न्याय के अधिकार ग्रहीता को दिये जाने से उनकी शक्ति सुदृढ़ हो गई एवं वे स्वेच्छापूर्वक इनका उपभोग करने लगें। परिणामस्वरूप राजस्व दोषपूर्ण होती गई और दण्ड प्रशासन की कुरीतियाँ समान्ती दोहन का अंग बन गई।

बेगार प्रथा

बेगार से अभिप्राय ऐसे शारीरिक श्रम से है जो सामन्तवर्ग द्वारा अधीनस्थ लोगों से लिया जाता है। जिसका मूल्य नहीं दिया जाता। यह प्रथा सामन्तयुग की विशिष्ट देन है। ग्रहीता द्वारा कृषकों एवं श्रमिकों से निःशुल्क श्रम लिया जाता था। भूमि एवं ग्रामदान के सामान्तर इसका भी विकास हुआ जैसे कि पहले स्पष्ट किया जा चुका हैं कि दाता द्वारा जब कोई भूमि या ग्रामदान में दिया जाता था तो उसके साथ उस भूमि पर काम करने वालें कृषकों एवं श्रमिकों को भी ग्रहीता को हस्तांतरित कर दिया जाता था। ग्रहीता को यह अधिकार प्राप्त था कि वह कृषकों एवं श्रमिकों से बेगार ले सकता था। भू–दानपत्रों की शर्तो में ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता हैं कि प्रतीहारों के सामन्तों को ग्रामीणों से बेगार लेने का अधिकार प्राप्त था। वहाँ यह प्रथा विष्टि नाम से जानी जाती थी और भूमिदान के साथ ग्रहीता को विष्टि का अधिकार भी सौप दिया जाता था। प्रतीहारों एवं राष्ट्रकूटों के राजकाल में यह व्यापक रूप से दृष्टिगत स्वयं करने अथवा तदर्थ दूसरों को सौप देने का अधिकार प्रदान किया जाता था,। सम्भवतः यह एक प्रकार गैर नकदी राजस्व का साधन था।

भारतीय सामन्तवाद की तरह बेगार प्रथा भी भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में गुजरी किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह सामन्तयुग की एक विशिष्टता थी जिसके द्वारा श्रमिकों और कृषकों का दोहन बड़े पैमाने पर हुआ। वे सदियों तक इस दोहन के चक्र में पिसते रहें किन्तु मुद्रा के चलन के कारण कालान्तर में इस प्रथा का ह्रास प्रारम्भ होने लगा। सम्भवतः बेगार के बदले नकद कर अदा किया जाने लगा। राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि बेगार के रूप में श्रमिक बोझा ढोते थे (रूढ़–भारोढ़ि) बोझ ढोने के तेरह प्रकार थे, किन्तु उनका उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। एक ऐसा उदाहरण प्राप्त हुआ हैं कि कुछ ग्रामवासियों ने एक साल तक बोझा ढोने का काम नहीं किया, फलतः उन सब पर जुर्माना ठोक कर उन्हें दंडित किया गया। उन्होंने जितना नहीं ढोया था उतनी ही कीमत के बराबर उनसे दण्ड वसूल किया गया और पास–पड़ोस के क्षेत्रों में उन वस्तुओं की जो प्रचलित कीमत थी उससे अधिक कीमत आँकी गई। इससे ऐसा ध्वनित होता है कि श्रम का स्थान नकद राशि लेती जा रही थी। बेगार की जो प्रथा मध्य–पश्चिमी भारत में दूसरी शताब्दी से आरम्भ हुई वह दसवीं शताब्दी ईस्वीं तक आते–आते ह्रास की ओर अग्रसरित हो चली इसका कारण व्यापक रूप से बाह्य व्यापार के फलस्वरूप उत्कृष्ट कोटि के साथ निम्न कोटि की मुद्रा का व्यापक स्तर पर चलन था, ऐसा माना जा सकता है कि ताल–कूप, सड़क एवं किले आदि के निर्माण में कृषकों एवं श्रमिकों से जो शारीरिक श्रम देने की अपेक्षा की जाती थी उसके बदले अब वे कुछ नकद रकम दे देते थे और राज्य उन रकमों से अपना ये काम पूरा कराता था। इस प्रकार जिन्स एवं शारीरिक श्रम के रूप में राजस्व की अदायगी के आधार पर खड़ी परम्परागत सामन्ती अर्थव्यवस्था का जड़े मुद्रा के चलन के कारण खोखली पड़ने लगी। सामन्त संस्कृति के अर्न्तगत एक नई सामाजिक प्रवत्ति उभरती नजर आई। वह थी जातियों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि। परम्परागत चातुर्वर्ण्य व्यवस्था अनेकानेक जातियों में बहुगुणित हो गई, अनेक जातियों को इनके अन्तर्गत समाहित कर लिया गया। इसके अनेक कारण और अनेक रूप दृष्टिगत होते हैं। ऐसा दो स्तरो पर हुआ, प्रथमतः विभिन्न जातियों के समागम से वर्णसंकरता के माध्यम से जातियों की संख्या में बहुगुणन हुआ। इसका दूसरा रूप विदेशी और देशी जातियों के समागम से भी नई जातियों का आविर्भाव हुआ। इसका एक अन्य रूप सांस्कृतिक आदान–प्रदान के माध्यम से विकसित होता दिखाई देता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में सौ जातियों का उल्लेख हैं। इसमें मनु द्वारा उल्लिखित इकसठ जातियाँ भी सम्मिलित की गई है। लगभग आठवीं सदी ईस्वी की रचना विष्णुधर्मोत्तर पुराण में बताया गया हैं कि वैश्व स्त्रियों तथा निम्नतर जातियों के समागम से अनेक वर्णसंकर जातियों का अविर्भाव हुआ तथा कबायली लोगो के बीच व्यापक सांस्कृतिक सम्पर्क व आदान–प्रदान परिणामस्वरूप अनेक वर्णसंकर जातियों का अविर्भाव

हुआ। सामंत युग में पेशा, विद्या के क्षेत्र, नैतिक पवित्रता, आवासीय स्थान तथा प्रसिद्ध प्राप्त कुटुम्ब के आधार पर ब्राह्मणों की अलग पहचान की गई। भौगोलिक आधार पर ब्राह्मणों की दस प्रमुख जातियाँ हो गई जिनमे पांच विंध्य के उत्तर जो सामूहिक रूप से पंचगौड़ कहलाए और पाँच दक्षिण जो पंचद्रविड़ कहलाए। पंचगौड़ ब्राह्मणों मे सरस्वती नदी के उत्तर–पश्चिम में स्थित कश्मीर व पंजाब के ब्राह्मण सारस्वत हरियाणा दिल्ली और मेरठ प्रदेश के गौड़ (कुरू या गुडगाँव) कन्नौज के आसपास के और उसके पूर्व के प्रदेश के कान्यकुब्ज, मिथिला अर्थात् बिहार के मिथिल और उत्कल अर्थात उडीसा के उत्कल कहलाए। दक्षिण भारत का समान्य नाम द्रविड़ देश होने के कारण वहाँ के विभिन्न प्रदेशों मे रहने वाले ब्राह्मण पंचद्रविड़ कहलाए। इस प्रकार भारत के अन्य भू–भागों के आधार पर ब्राहमणों के क्षेत्रीय नाम विकसित हुए राजतरंगिणी में राजपूतो के छत्तीस वंशो का उल्लेख हैं। भूमिदान से समबिन्धत कागज पत्रों को सुरक्षित रखने के लिए लिपिकों के एक विशिष्ट वर्ग का अविर्भाव हुआ जिसे कायस्थ नाम दिया गया। इनका प्रथम उल्लेख चौथी सदी ईस्वी में स्मृतिकार याज्ञवल्क्य की रचना में हुआ है। गौड़, माथुर, श्रीवास्तव्य, निगम आदि इसी के कुल है। उत्तर भारत में ग्राम शासन के पदाधिकारी महत्तर का भी सामंत युग में एक विशिष्ट वर्ग गठित हो गया। यह एक सम्पन्न वर्ग था इसी की प्रतिनिधि जातियाँ महतों, महथा, मलहोत्रा, मेहरा, महरोत्रा आदि हैं। इसके अतिरिक्त सामन्त युग मे शिल्प को भी जाति का आधार मान लिया गया था। विभिन्न शिल्पी वर्गो के पेशों के आधार पर उनके अलग–अलग नाम व सामाजिक वर्ग बने। फलतः पेशे के आधार पर वैश्यों तथ शुद्रों की अनेक जातियाँ व उपजातियाँ बन गई। निष्कृष्ट कार्य करने वाले वर्ग को अस्पृश्य की संज्ञा दी गई। स्पष्टतः सामन्ती संस्कृति के अन्तर्गत अनेक जातियों एवं उपजातियों का अभिर्भाव हुआ जिनके अपने अलग–अलग रीति–रिवाज धार्मिक एवं दार्शनिक विचार होने के कारण जातिगत भेद–भाव, सर्कीर्णता व क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति का अभिर्भाव हुआ। सामन्ती संस्कृति की यह देन आज भी भारतीय समाज के हर कोने में व्यापक रूप से नजर आती है।

सामंतो व श्रीमंतो मे आत्म सम्मान का भाव अंहकार की सीमा तक होना था। वे बराबर अपने ऊँचे दर्जे के अहसास में गिरफ्त होते थे। चूँकि भू–स्वामी को चाहे उनका दर्जा कुछ भी हो समस्त कृपा का स्रोत माना जाता था। इसलिए उनमें अंहकार की प्रबल भावना घर कर जाती थी। उनके पुरोहित अपने यजमान के नाम के साथ प्रतिष्ठा व सत्ता के घोतक विशेषण व विरूद्ध जोड़ देते थे। अपने नाम क साथ सामंत व श्रीमंत अपनी सत्ता व सम्पत्ति के अनुसार बड़ी–बड़ी उपाधियाँ धारण करते थे यथा महामंडलेश्वर, मांडलिक, महासामंत सामंत, लघुसामंत, चतुराशिक तथा पंचमहाशब्द जैसी आडम्बरयुक्त उपाधि प्राप्ति के लिए उत्सुक रहते थे। यह उपाधि उनकील श्रेष्ठता व गरिमा को प्रदर्शित करती है। सामन्तगण राजा की तरह छत्र सामृद्धि का द्योतक था। सामंत व श्रीमंत ऐश्वर्य प्रदर्शन में अत्यधिक विश्वास रखते थे। अपनी शान–शौकत के प्रदर्शन तथा अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर विवाहादि, पारिवारिक संस्कारों व समारोहों के अवसर पर वे खुले हाथ खर्च करते थे जिससे बहुधा उनकी जागीरें महाजनो के हाथ चली जाती थी। सामंती संस्कृति के अन्तर्गत बुद्धिजीवी एवं संभ्रान्त वर्ग द्वारा शारीरिक श्रम को हेय की दृष्टि से देखा जाता था। शिक्षा–दीक्षा से सम्बन्ध रखने वालो को शारीरिक श्रम से दूर रहने को कहा जाता था। धर्मशास्त्रों में ब्राह्णों के लिए हल चलाना निषिद्ध है उल्लेख मिलता है। सवर्ण लोग धान की रोपाई नही कर सकते थे। श्रम बल के अभाव व भूमि के आधिक्य से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई जिनमे बाध्यता का प्रयोग किया गया। ब्राह्णों ने जो स्वयं ही बहुत सारे श्रीमंत क्षेत्रों के स्वामी थे अपनी स्वार्थपरता का ध्यान मे रखते हुए कृषकों के मानस को प्रभावित करने एवं प्रदत्त भू–क्षेत्र के सरंक्षण हेतु महत्वपूर्ण वैचारिक भूमिका निभाई।

धार्मिक विचारधारा के रचयिता और धार्मिक सत्ताधारक के रूप में ब्राह्मणों द्वारा नियतिवाद पुर्नजन्म, प्रायश्चित, स्वर्ग, नरक का भय दिखाकर परस्पर विरोधी हितों वाले वर्गो को एक सूत्र में बाँधा रखा। अपने लाभ–हानि के लिए मनुष्य के पास कोई तर्कसंगत कारण नहीं होता था। इसका समाधान दार्शनिक व मनीषियों ने कर्मफल सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित किया कि मनुष्य अपने समाज में अपने कर्मो के आधार पर जो सुख–दुःख प्राप्त करता हैं वह उसके कर्मो का फल है। प्रारब्ध कर्म के फल का भोग करते हुए मनष्य को पुरूषार्थ का पालन अच्छें क्रियामाण फल प्राप्ति हेतु करना चाहिए जिसकी अभिव्यक्ति तद्युगीन कला में दृष्टिगत होती है। इस विचारधारा के परिणामस्वरूप कृषकों में असहायता व दीनता की भावना का जन्म हुआ।

निष्कर्ष

इस प्रकार सामन्तवाद ने कुल मिलाकर एक ओर आर्थिक पतन के साथ एक नए प्रकार की अर्थव्यवस्था का प्रादुर्भाव किया, जिसकी विशिष्टता शहरी संकुचन व कृषि एवं शिल्प के विस्तार में पायी गयी। आरम्भिक मध्य युग में बहुसंख्य राज्यों के उदय से कृषि के विस्तार में के संकेत मिलता है। सामाजिक संगठन में जजमानी प्रथा का महत्व बढ़ गया। शहर पतन, मुद्रा के कम प्रचलन और कृषि के विस्तार के फलस्वरूप यह स्थिति पैदा हुई। सामन्तवाद पराधीन किसान और प्रभावी भूमिपतियों के अस्तित्व के रूप में पहचाना गया। इससे एक प्रकार की बंद अर्थव्यवस्था का युग आरम्भ हुआ जिसमें बिचौलियों की जरूरतों की पूर्ति व्यापारियों के प्रभावी हस्तक्षेप के बिना स्थानीय स्तर पर ही हो जाती थी।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. झा, द्विजेन्द्र नारायण (2000): ''प्राचीन भारत सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल'' नई दिल्ली
2. कौसाम्बी डी0 डी0 (1956): ''इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री''' बम्बई
3. लियरी, ब्रेंडन ओ0 (1989): ''दि एशियाटिक मोड आफ प्रोडक्शन, ओरिएंटल डिस्पटिज्म, हिस्टोरिकल मेटरियलिज्म एवं इंडियन हिस्ट्री'' लंदन
4. सिंह, उपेन्द्र (2008): ''प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास'' नई दिल्ली
5. शर्मा, आर0 एस0 (1959): ''ऐस्पेक्ट्स ऑन एशिएंट पालिटिकल ए इंडियाज एण्ड इंस्टिट्यूशंस'' दिल्ली
6. शर्मा, आर0 एस0 (1983): ''मटेरियल कल्चर एण्ड सोशल फॉर्मेशनन्स इन एन्शियन्ट इण्डिया'' दिल्ली
7. शर्मा, आर0एस0(2002) ''पूर्वमाध्यकालीन भारत का सामन्ती समाज और संस्कृति'' नई दिल्ली
8. शर्मा, आर0एस0, (2004) ''भारत के प्राचीन नगरों का पतन'' नई दिल्ली
9. शर्मा, आर0एस0, (1965) ''इंडियन फ्यूलिज्म'' कलकत्ता
10. शर्मा, आर0एस0, (1981) ''सोसल चेंचेज इन अर्ली मेडिवल इंडिया'' नई दिल्ली
11. विपिन चन्द्र (1974): ''मार्क्सिज्म इन इंडिया, ए टोटल रेक्टिफिकेशन'' मुम्बई
12. वाशम, ए0 एल0 (1997): ''अद्भुत भारत'' आगरा
13. वर्मा हरिश्चन्द्र (2001): ''मध्यकालीन भारत–(750–1540 ई0)'' नई दिल्ली
14. यादव, बी0एन0एस0 (1973) ''सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इंडिया इन द ट्वेल्थ सेन्चुरी'' इलाहाबाद।